श्री डाक्टर गुलाबचन्दजी पाटनी म्यूनीसिपल कमिश्नर व ऑनरेरी
मजिस्ट्रेट के प्रबन्ध से श्री पाटनी प्रिंटिंग प्रेस,
अजमेर में मुद्रित.

विधवा विवाह जैन शास्त्रोक्त नहीं है

लखि विधवाओं को हो जाते,
जिनके आनन कूप सनीर।
करें न क्यों विधवा विवाह को,
ऐसे नर कलियुग के वीर ॥ १ ॥

सन् १९१६ ई० में मृत बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीयकी संपादकी में लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले जाति प्रबोधक पत्र के ८वें अङ्क में "जैनशास्त्रों में स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा" शीर्षक एक लेख छपाथा और उसका खण्डन भी श्री दि० जैन धर्म प्रवर्द्धिनी सभा लखनऊ द्वारा प्रकाशित "मखमली मुंह तोड़ जवाब" और श्रीमान् पं० रघुनाथदासजी द्वारा लिखित "पुनर्विवाह पर विचार" आदि ट्रैक्टों के द्वारा समुचित प्रकार से दिया जा चुका था। इन ट्रैक्टों द्वारा जो जो हानियां विधवा विवाह से दिखलाई गई हैं उनका खण्डन अभीतक किसी ने भी नहीं किया परन्तु फिर भी हाल में फूलचन्दजी पद्मावती परवार फिरोजाबाद निवासी ने पी० सी० जैन मोतीकटरा आगरा" इस नाम से उसी जाति प्रबोधक के पुराने लेख को एक ट्रैक्ट रूप में छपवा कर विना मूल्य समाज को भेंट किया है (और खंडेलवाल जैन हितेच्छु के आफिस में तो समालोचनार्थ भेजने का भी साहस किया है। ता० २४ अगस्त के जैन गजट द्वारा "फूलचन्द जैन मोतीकटरा आगरा से दो दो बातें" इस लेख में ईश्वरीप्रसादजी नामक एक व्यक्ति ने आप से यह भी पूछा है कि "अगर इस लड़की से जिसकी शादी मेरे साथ हो चुकी है आप सम्बन्ध करना चाहते हो तो क्या तुम पद्मावती पुरवार जाति में विधवा विवाह तो दूर रहा सधवा विवाह के ही

करने वाले नहीं हो।" इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि आप अभी कंवारे या रण्डुआ हैं और अपने स्वार्थ साधन के लिये ही सुधारक का वेष धारण कर "हम जाति का हित करने को सोना सिपर बनायेंगे। सिर पर आरे भी चलते हों तो बहिनों का दुःख मिटायेंगे" इस परोपकारी कूट मन्त्र की माला फेरते हुए समाज के सामने आ खड़े हुए हैं।)

यद्यपि मनोकल्पित कुयुक्तियों की चक्की में सदाचार रूपी अन्न को पीसने वाले पी० सी० जी के भेजे हुए ट्रैक्ट का पुनः खंडन करना पिष्ट पेषण ही है तथापि आग जब जब लगे तब तब ही उसे बुझाना चाहिये नहीं तो न मालूम वह कब कैसा भयङ्कर रूप धारण करले". इस उपदेशानुसार जब प्रमाद ग्रस्त समाज के धर्म धन को लूटने के लिये फिर धावा किया गया है तो उसका प्रतीकार करना भी उचित ही है ऐसा समझ कर इस ट्रैक्ट की उन बातों का खंडन किया जाता है जिनको कि धर्मशास्त्र की आज्ञा की दुहाई देकर सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

त्रिवर्णाचार नामक एक ग्रन्थ सोमसेनजी भट्टारक द्वारा वि० सं० १६६७ में निर्मित और संगृहीत हुआ है। और अर्वाचीन होने के कारण इसके वे ही उपदेश धार्मिक समाज को मान्य हैं जिनसे सम्यक्त्व या चारित्र में कोई प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती है। इसके विवाह प्रकरण में १ वाग्दान (कन्या के पिता का वर के पिता से यह कहना कि मैं अपनी पुत्री को तुम्हारे पुत्र के लिये दूंगा। २ प्रदान (वस्त्राभूषणों से भूषित कन्या को वर के लिये देना। ३ वरण (कन्या के पिता का वर पक्ष वालों से यह प्रार्थना करना कि मैं इस पुत्री को इस वर के लिये देता हूं सो आप स्वीकार करें। ४ पाणिपीडन (धर्म अर्थ और काम रूपी त्रिवर्ग के साधन में तू मेरे साथ रहेगी इस प्रकार की प्रतिज्ञा पूर्वक वर के द्वारा कन्या का हाथ पकड़ना और ५ सप्तपदी (सप्त परमस्थान की प्राप्ति के लिये सात प्रदक्षिणा (फेरा या भांवर देना)। इस प्रकार से विवाह के ५ अङ्ग बतलाये

गये हैं और यह भी लिखा है कि जब तक सप्तपदी न हो तब तक विवाह नहीं होता इस लिये सप्तपदी अवश्य करना चाहिये।

इस विवाह (सप्तपदी) होने के पश्चात् भी आदिपुराणजी में वरवधू को ७ दिन पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहने की आज्ञा है और सोमसेन त्रिवर्णाचार में सप्तपदी के पीछे अन्य बहुतसी विधियों का वर्णन कर अन्त में दिखलाया है।

"अथ विशेषः-विवाहे दंपती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सह शय्यासनाशिनौ ॥ १७१ ॥
वध्वा सहैव कर्त्तव्यं निवासं श्वसुरालये।
चतुर्थदिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥ १७२ ॥

भावार्थः—यहां कुछ भेद है अर्थात् अन्यमत की स्मृतियों में यह बात अधिक है—विवाह होने पर वरवधू तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य में रहें और वधू गहने कपड़ों से भूषित रहे तथा वर वधू दोनों साथ सोवें बैठें व खावें ॥१७१॥ कितने ही ऐसे कहते हैं कि वर वधू के साथ चौथे दिन भी सुसराल में ही निवास करे ॥१७२॥ यहां यह विरोध आता है कि—आदिपुराणजी में तो ७ दिन तक ब्रह्मचर्य रक्खा गया है और त्रिवर्णाचार में ३ दिन और इस विरोध से लेखकजी ने यह सिद्ध करना चाहा है कि विवाह कोई धर्मानुकूल विधान नहीं बलिक व्यावहारिक साधारण विधि है जो देशकाल और आवश्यकता के अनुसार बनाली और बदल ली जाती है।" इसका उत्तर यह है कि-ये दोनों श्लोक जैनाचार्य कृत नहीं है क्योंकि स्वयं सोमसेनजी ने "अथ विशेषः" कहके लिखे हैं। और हमारे पास भट्टारक जिनसेन कृत त्रिवर्णाचार के १५वें पर्व से निकाली हुई 'विवाह पद्धति' नामक लिखित पुस्तक में भी इन दोनों श्लोकों के अन्त में 'इति स्मृतिवचनम्' (इस प्रकार स्मृति का वाक्य है) ऐसा लिखा हुआ है। स्मृतियां जितनी भी हैं सब अन्यमत की हैं। सोमसेनजी ने प्रसङ्गवश अन्य मत दिखला दिया है।

यहां यदि यह कहा जावे कि उस समय सोमसेनजी को तीन दिन पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन कराना ही उचित दिखलाई दिया इसलिये ये श्लोक लिखे तो उत्तर यह है कि—ये सोमसेन भट्टारक श्री भगवज्जिनसेनाचार्यजी से प्रायः ७०० वर्ष पीछे हुए हैं और दोनों की योग्यता में लोह सोने का अन्तर है। अतः इनके वे ही वचन प्रमाण किये जा सकते हैं जो पूर्वाचार्यों की आज्ञा के घातक न होकर उन आज्ञाओं के पोषक हों यदि किसी भी जैनी का लिखा हुआ शास्त्र प्रमाण माना जावे तो आज शीतलप्रसादजी कोई शास्त्र बनाकर उसमें यह लिख जावें कि विधवा विवाह समयानुकूल है इसके करने में कोई हानि नहीं तो क्या कालान्तर में धार्मिक समाज उसको मान्य कर सकता है? नहीं कदापि नहीं!

यह कहना कि विवाह कोई धर्मानुकूल विधान नहीं सो इसके खण्डन में लिखा तो बहुत कुछ जा सकता है अभी यहां इतना ही लिखना है कि "जैनों के ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये ४ आश्रम अनादिनिधन श्रुत ज्ञान के द्वादशांगों में से ७ वें उपासकाध्ययनांग में कहे हुए हैं अतः गृहस्थाश्रम धर्मानुकूल है और विवाह उस गृहस्थाश्रम की जड़ है। क्योंकि अयोग्य विवाह के होने पर गृहस्थ धर्म ही नहीं ठहर सकता। अतः समयानुकूल परिवर्तन इसमें नहीं हो सकता।

यहां पर लेखकजी का यह आक्षेप कि "यदि विवाह धर्मानुकूल विधान था तो सब को आदिपुराण या त्रिवर्णाचार की विधि से ही विवाह करना चाहिये था" अतः यह एक व्यावहारिक विधि (साधारण विधि) है इसका उत्तर यह है कि लौकिक प्रवृत्ति अन्यथा होने से (दुनियां का बर्ताव बेजा होने से) शास्त्रीय उपदेश व्यवहार रूप नहीं कहे जा सकते। अधिकांश लोगों के झूंठ बोलने से यह कभी नहीं कहा जा सकता कि झूंठ बोलने में पाप नहीं है अथवा सत्य बोलना धर्म शास्त्र का उद्देश्य नहीं है। और जिस दिन ऐसा कहा जायगा उस दिन धर्म का नाश भी हो जायगा।

यहां इस कथन का यह भी तात्पर्य नहीं समझना कि शास्त्रों की सभी बातोंपर हरताल फेर दी जा सकती है अर्थात् शास्त्रीय सभी उपदेशों का पालन न किया जाय तो भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि शास्त्रों में कितने ही उपदेश तो ऐसे हैं जिन का पालन करना मुख्य (खास तौर पर लाजमी) है जैसे जैन के लिये अष्टमूल गुणों का धारण और कितने ही ऐसे भी उपदेश हैं जिनको न पालने पर भी वह जैन कहला सकता है जैसे १२ व्रतों का धारण न करना। इसी तरह से जिस विवाह में शास्त्रोक्त अन्य अवान्तर विधियों का पालन नहीं कर किसी भी विधि से पूर्वोक्त विवाह के पांच अंगों का पालन हो गया है वह विवाह भी धर्मानुकूल ही समझा जाता है। क्योंकि शुद्ध व्यवहार का नाम ही धर्म है। परंतु जिसमें अग्नि आदि की साक्षी से कन्या के साथ सप्तपदी न हुई हो वह विवाह वास्तव में विवाह नहीं कहलाता है। और विधवा के साथ विवाह करने का तो किसी भी जैन धर्म शास्त्र में विधान ही नहीं है। जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ हो वही स्त्री धर्मपत्नी भी कहलाती है।

आगे चलकर—

> चतुर्थीमध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत्।
> दत्तामपि पुनर्दद्यात्पितान्यस्मै विदुर्बुधाः ॥१७३॥

यह श्लोक लिखकर इसका अर्थ यह किया गया है कि—"चौथे दिन अर्थात् विवाह के पीछे तीन दिन का ब्रह्मचर्य पालन करने के पश्चात् यदि वरमें दोष मालूम हो तो कन्या का पिता उस दी हुई कन्या को भी किसी दूसरे को देवे अर्थात् उस अपनी ब्याही हुई कन्या का विवाह फिर दोबारा किसी दूसरे पुरुष से करदे ऐसा बुद्धिमान पुरुष कहते हैं। १७३। और इस प्रकार अर्थका अनर्थ करके फिर स्वयं लेखकने ही फैसले के तौर पर लिखा है कि "श्लोक १७३ यह कहता है कि—चौथे दिन अर्थात् वरवधू के आपस में संग करलेने पर, वरमें दोष मालूम हो तो भी विवाह तोड़ दिया जावे और कन्या का विवाह किसी दूसरे पुरुष से कर दिया जावे।

शोक है कि ग्रंथ कारने वे दोष नहीं लिखे जो चौथे ही दिन अर्थात् वरवधू के आपसमें संग करने से ही मालूम हो सकते हैं और जिनके कारण विवाह तोड़ डालने और दूसरे पुरुष से स्त्री का विवाह कर देने की आज्ञा है। इस कारण इस स्थानपर बुद्धि से ही काम लिया जाना चाहिये। विचार करने से यही मालूम होता है कि वरका नपुंसक होना व कुष्ट और आतशक आदि कोई बीमारी होना ही ऐसे दोष हो सकते हैं जिनके कारण विवाह को रद्द कर देने की आज्ञा दी गई है।"

इस का यह उत्तर है कि प्रथम तो इस श्लोक के ऊपर सोमसेन त्रिवर्णाचार में "अथ परमत स्मृति वचनम् अर्थात् अब विवाह के विषय में अन्य मतकी स्मृति का वचन दिखलाते हैं" ऐसा लिखा है दूसरे यहां पर चतुर्थी शब्द का लेखकजी ने अपनी विभंगा बुद्धि से चौथा दिन अर्थ करके उसके द्वारा आकाश पाताल को एक करने वाला जो यह खयाली पुलाव पकाया है कि "चौथे दिन जब वर वधू का सह वास (काम सेवन) हो और उस दिन इस विवाहिता स्त्री को यह मालुम होजाय कि मेरा यह पति नपुंसक आदि है तो ऐसी दशा में वह स्त्री अपने पति के रोग को पिता से कह देवे और फिर पिता उस विवाह की हुई अपनी पुत्री का किसी दूसरे से विवाह करदे" सो सर्वथा असत्य है। क्यों कि यहां पर चतुर्थी शब्द का अर्थ चोथा दिन न होकर चौथा फेरा है और दी हुई का अर्थ विवाह की हुई न होकर विवाह के ५ अंगों में जो वाग्दान व प्रदान अंग है उसके अनुसार वचन से दी हुई या जलधारा पूर्वक संकल्प की हुई अर्थ है और इसमें हमारे पास लेखक जी की तरह कोई मन घड़ंत युक्ति नहीं किन्तु उन्हीं अन्य मतकी स्मृतियों के बहुत से प्रमाण हैं जिनमें सप्तपदी होने के पहिले २ ही कन्या को दूसरे के लिये देने का स्पष्ट कथन किया गया है।

(१) याज्ञवल्क्यस्मृति में—

मूल। दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्। व्याख्या यदि पूर्वस्मात्परात् श्रेयान् विद्याभिजनाद्यतिशययुक्तो वर आग

च्युति पूर्वस्य च पातकयोगा दुष्टवृत्तत्वं वा तदा दत्तामपि हरेत्. एतच्च सप्तपदात्प्राग् द्रष्टव्यं॥ अर्थ इसका यह है कि पहले वरकी अपेक्षा कोई विद्या कुल आदि से श्रेष्ठ दूसरावर आजे या पहिला वर पापके योगसे दुराचारी होतो दी हुई कन्या को भी उससे छीनले अर्थात उसका विवाह दूसरे से करदे। यह कार्य सप्तपदी के पहले ही समझना चाहिये।"

जैसे उक्त श्लोक में अयोग्य वर से कन्याको छुड़ाने का अधिकार कन्या के पिताको दिया गया है। उसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक में वर पक्ष को भी सप्तपदी के पहले कन्या छोड़ने का अधिकार दिया गया है।

"विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्। १।"

टीका—'मङ्गिरेव द्विजाग्र्याणाम्' इत्येवमादिविधिना प्रति गृह्यापि कन्यां वैधव्यलक्षणोपेतां रोगिणीं क्षतयोनित्याद्य भिशापवतीमधिकाङ्गा द्विगोपमच्छद्मोपपादितां सप्तपदी करणात्प्रागज्ञातां त्यजेत्, तत्कृतत्यागे दोषाभावः। मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ७२

भावार्थ-इसका यह है कि विवाह के समय कन्याके पिताके द्वारा दिये हुये संकल्प जल को ग्रहण कर लेने के बाद भी यदि वर या वर पक्ष वालों को यह मालुम हो जाय कि इस कन्याके लक्षण वैधव्य (विधवापने) के सूचक हैं या यह कन्या व्यभिचार से दूषित है अथवा इसके पिताने इसके अधिकांग आदि दोषों को छिपाकर हमें दी है तो ऐसी दशा में वह तब तक उस कन्या को छोड़ सकते हैं जब तक कि सप्तपदी न हुई हो।

पहले याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक में यह कहा गया है कि-यदि वरमें कोई दोष हों तो कन्या का पिता सप्तपदी के पहिले उस कन्या को दूसरे के लिये दे दे। इस मनुस्मृति में यह दिखलाया गया है कि-सप्तपदी के पहिले कन्या में दोष मालुम हो जाय तो

वर कन्या को छोड़ दे। भावार्थ यह आया कि दोनों पक्ष वालों को ही सप्तपदी के पहिले २ संबंध छोड़ देने का समान अधिकार दिया गया है।

यदि यहां यह प्रश्न किया जावे कि उक्त दोनों श्लोकों में 'सप्तपदी के पहले' ऐसा कथन किया गया है इसलिये चतुर्थी शब्द का अर्थ चौथे फेरे रूप कैसे करते हो तो इसमें भी मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक को प्रमाण में दिया जाता है—

पाणि ग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे। मनुस्मृति अ० ९ श्लोक २२७

टीका—वैवाहिका मंत्रा नियतं निश्चितं भार्यात्वे निमित्तम्। मन्त्रैर्यथाशास्त्रप्रयुक्तैर्भार्यात्वेन निष्पद्यते। तेषां तु मन्त्राणां 'सखा सप्तपदी भव' इति मंत्रेण करणभूतेन सप्तमे दत्ते पदे भार्यात्वनिष्पत्तेः शास्त्रज्ञैर्निष्पत्तिर्विज्ञेया। एवं च सप्तपदीदानात्प्राग्भार्यात्वानिष्पत्तेः सत्यनुशये त्यागो नोक्तम्।

अर्थात् पाणि ग्रहण (विवाह) के मन्त्र कन्या को भार्या बनाने में कारण हैं और इन मन्त्रों का कार्य सातवें फेरे में सिद्ध होता है। अतः ७ वें फेरे के पहिले प्रबल कारण वश एक दूसरे को छोड़ सकता है इसके पश्चात् नहीं।

उक्त श्लोकों में जब छै फेरों तक परस्पर संबंध छोड़ने की आज्ञा है और वर्तमान में भी फेरों के समय औरतें गीत गाती हुई कहती हैं कि छठे फेरे बेटी बाप की और सातवें फेरे पराई तो फिर चतुर्थी शब्द से चौथा फेरा अर्थ करना तो मर्यादा के भीतर ही है कि बाहर जिससे अनर्थ हो।

इतने पर भी यदि विधवा विवाह के पक्षपाती चतुर्थी शब्द का अर्थ विवाह के पश्चात् का चौथा दिन ही अर्थ करना चाहें, तो हम उनके सामने सोमसेन त्रिवर्णाचार के विवाह प्रकरण में दूसरी जगह दिये हुए दो श्लोक रखते हैं—

चतुर्थी मध्ये कन्या चेद्भवेद्यदि रजस्वला ।
त्रिरात्रमशुचिस्त्वेषा चतुर्थेऽहनि शुध्यति ॥ १॥
पूजा होमौ प्रकुर्वीत प्रायश्चित्तं विधीयते ।
जिनं संपूजयेद्भक्त्या पुनर्होमो विधीयते ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि विवाह के चतुर्थ अंग वरण या चौथे फेरे में कन्या रजस्वला हो जावे तो वह तीन रात अपवित्र रहकर चौथे दिन शुद्ध हो जाती है । इसके शुद्ध होने पर पूजा होम और प्रायश्चित्त करे भक्ति से श्री जिनेन्द्र की पूजा और विवाह सम्बन्धी होम दुबारा करे अर्थात् फिर से अग्नि की साक्षिपूर्वक सप्तपदी करे ।

यहां पर चतुर्थी शब्द का अर्थ जो हम कर रहे हैं वही ठीक होता है दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता । क्योंकि प्रथम तो सप्तपदी होने के पश्चात् स्त्री कन्या नहीं कहला सकती दूसरे सप्तपदी होने के पश्चात् चौथे दिन स्त्री रजस्वला हो तो उसमें पूजा, होम प्रायश्चित्त आदि करने की आवश्यकता ही क्या । तीसरे नं० १७३ के श्लोक में तो चतुर्थी शब्द से विवाह के पश्चात् का चौथा दिन अर्थ लेना चाहिये और यहां चतुर्थी शब्द से चौथा फेरा अर्थ करना चाहिये । इस प्रकार एक ही शब्द के एक ही प्रकरण में भिन्न २ दो अर्थों के करने में विशेष कारण भी क्या ?

पाणिग्रहणिका मन्त्रा कन्यास्वेव प्रतिष्ठिता ।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ता; ॥ १ ॥

मनुस्मृति अ०।८ श्लो० २२६

अर्थात् विवाह सम्बन्धी मन्त्र कन्याओं में ही काम में लाये जा सकते हैं जो कन्या नहीं है अर्थात् जिन की सप्तपदी हो चुकी है उन विवाहिता सधवा वा विधवा स्त्रियों का इन मन्त्रों से विवाह नहीं कराया जा सकता । क्योंकि वे धर्माचरण से नष्ट हैं अर्थात् कोई सधवा वा विधवा स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे तो वह अपने पतिव्रत धर्म को नष्ट करती है ।

यह मनुस्मृति का वाक्य भी विवाह के चतुर्थ दिन पति के साथ कोई और काम क्रीड़ा की हुई स्त्री का तो क्या परन्तु सप्तपदी के बाद कन्या शब्द को छोड़कर भार्या शब्द को प्राप्त हुई स्त्री के भी विवाह का निषेध करता है।

यह तो हुआ शास्त्रीय प्रमाण। अब जरा बुद्धि से भी विचार ने की बात है कि यदि आचार्यों को यह स्वीकार होता कि विवाहित स्त्री प्रथमबार पति के साथ संभोग करे और पति में नपुंसकता आदि दोष जान पड़ने पर दूसरे को पति बना ले तो ऐसा ही आज्ञा क्यों नहीं देते कि कन्या का पिता वाग्दान (सगाई) के पहिले या पीछे एक बार अपनी पुत्री को पति की नपुंसकता की परीक्षा करने के लिये भेजदे और वह कन्या पति के पुरुषत्व की परीक्षा करके आकर सार्टीफिकट दे दे. तब बरात को बुलाकर परीक्षित पति के साथ उसके फेरे करदे। ऐसी आज्ञा देने से व्यभिचार का दोषतो दोनों हालतों में समान ही था। फायदा यह होता कि कन्या के पिता और वर के पिता को जो विवाह में आदि से ले अन्त तक परिश्रम व खर्च करना पड़ा वह नहीं होता और न वर पक्षकी मान हानि होती तथा झगड़े टंटे भी नहीं होते परंतु इस प्रकार स्त्री से काम सेवन करा प्रारंभ से ही उसको व्यभिचार की शिक्षा न देनी थी इस लिये ही उन्होंने ऐसी आज्ञा नहीं दी।

अब लेखकने अपने मनघडंत अनर्थ की पुष्टि के लिये जो श्री सोमसेन त्रिवर्णाचार का निम्न लिखित श्लोक प्रमाण में दिया है उस पर विचार किया जाता है।

> प्रवरैक्यादिदोषाः स्युः पतिसंगादधो यदि
> दत्तामपि हरेद्दद्यादन्यस्मा इति केचन ॥ १७४ ॥

परमतस्मृतिवचनम्।

भावार्थ—यदि पति के संबंध से पहले वरमें एक गोत्र आदि रूप दोष निकल आवें तो दी हुई कन्या भी छीन ले उससे और किसी दूसरे को दे दे ऐसा कितने ही शास्त्रकारों का कथन है इस श्लोक के अंतमें भी अन्य मतकी स्मृति का वचन है ऐसा लिखा हुआ है।

इस श्लोक में "पतिसङ्ग" शब्द का अर्थ पाणिग्रहण है। क्योंकि वाग्दान २ प्रदान और ३ वरण के पश्चात् जो ४ पाणिग्रहण अर्थात् कन्या के हाथ को वर के हाथ में सौंपा जाना है। यही तो कन्या का उसके पति के साथ प्रथम सम्बन्ध (संयोग) कराना है। परंतु विधवा विवाह पोषकजी ने पतिसङ्ग का अर्थ किया है, पति के साथ काम सेवन होना और ऐसा अर्थ करके उसके सहारे से यह सिद्ध करना चाहा है कि "जब कि गोत्र के एक होने वा वर के अन्य दोषों के कारण ही विवाह को तोड़ कर स्त्री का दूसरा विवाह कर देने की आज्ञा है तब इससे यह बात तो स्पष्ट ही विदित होती है कि आपस में कामसेवन होने से पहिले वर के मरजाने पर तो अवश्य ही वधू का दूसरा विवाह होजाना चाहिये।" सो यहां पर प्रथम तो पतिसङ्ग का अर्थ पति के साथ काम सेवन करना ही अन्यमत की स्मृतियों से विरुद्ध पड़ता है क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाणों से उनमें सप्तपदी के पहिले ही विशेष कारण वश दूसरे को कन्या देने का विधान है और विधवा विवाह का भी पूरा २ निषेध किया गया है "दूसरे जीवित पति में गोत्र की एकता का होना" यह दोष जैसा धर्म व शुद्ध व्यवहार का नाशक है वैसे ही अन्य दोषों का आदि शब्द से ग्रहण किया जा सकता है न कि घोर अन्यायप्रवर्त्तक "मृतक की अभुक्त विधवा" का विवाह कर देने आदि रूप विचारों का। अतः "प्रवरैक्यादि" के आदि शब्द से यह बात ही कैसे स्पष्ट सिद्ध कर डाली गई कि कामसेवन से पहिले वर के मर जाने से वधू का दूसरा विवाह अवश्य ही कर देना चाहिये। क्या धर्म में भी कुयुक्तियां चल सकती हैं। तीसरे "दत्तामपि हरेत्" यहां पर हरेत् का अर्थ छीन ले है सो इस क्रिया का प्रयोग जीवित पति के साथ ही हो सकता है न कि मृतक के— क्योंकि मृतक तो, विचारा स्वयं ही छोड़ कर चला जाता है उससे छीनी ही क्या जावे। चौथे विधवा विवाह के विधाताजी ने इस १७४ नम्बर के श्लोक को १७३ नं० के श्लोक की पुष्टि में देकर "चौबेजी गये तो थे छब्बेजी होने पर दुबे ही रह गये" इस कहावत को अपने में चरितार्थ की है क्योंकि सिद्ध करना था चौथे दिन पति के साथ कामसेवन की हुई स्त्री का भी दूसरे से विवाह किया जाना और यह श्लोक कहता है

पत्ति के साथ सम्बन्ध को प्राप्त न हुई स्त्री का दूसरे के साथ विवाह करना। अतः यह तो अब त्रिवर्णाचार के श्लोक से ही सिद्ध हो गया कि जिस स्त्री ने पति के साथ एक बार भी कामसेवन कर लिया है वह चाहे सधवा हो चाहे विधवा उसका किसी अन्य पुरुष से विवाह नहीं हो सकता और इस श्लोक से जो पतिसङ्ग से पहिले ब्याही हुई स्त्री का विवाह होना सिद्ध करना चाहते थे उसका भी उक्त तीन हेतुओं से खण्डन किया ही जा चुका है। जो कि समझदार पाठकों के लिये काफी है।

अब लेखकजी ने विधवा विवाह को सिद्ध करने के लिये जो त्रिवर्णाचार का निम्नलिखित श्लोक दिया है उसका खण्डन किया जाता है—

"कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः
कस्मिंश्चिद्देश इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन ॥ १७५ ॥

अर्थात् गालव का यह कहना है कि कलियुग में पुनर्विवाह न होना चाहिये। कितने ही इसे किसी देश में चाहते हैं सब जगह नहीं" । १७५ ।

इस श्लोक पर से लेखकजी ने निम्नलिखित बातें सिद्ध की हैं—

(१) सत्युग में पुनर्विवाह (विधवा विवाह) होता था परन्तु कलियुग में सिर्फ एक गालव नाम का कोई पुरुष इसे मना करता है।

(२) सोमसेनजी की सम्मति ऐसी नहीं थी इसी से उन्होंने गालव के इस पुनर्विवाह निषेध का मण्डन न करके उत्तरार्द्ध से यह दिखलाया है कि गालव की सम्मति सब जगह नहीं मानी जाती क्योंकि यह पुनर्विवाह कहीं होता है कहीं नहीं।

(३) सोमसेनजी ने पुनर्विवाह को न बुरा कहा न अच्छा कहा इससे उनकी यही सम्मति मालुम होती है कि देश काल के अनुसार जैसा उचित हो कर लिया जावे।

(४) कलियुग में ब्राह्मण मतवालों ने विधवा स्त्री के लिये जिंदा जल मरने व घुल घुल कर मर मिटने की प्रथा चलाई और इस मत का प्राबल्य हिंदुओं में अधिक हो गया इसी के प्रभाव में आकर गालव ने भी यह कह दिया कि जैनियों में भी स्त्रियों का पुनर्विवाह न होना चाहिये।

(५) सत्युग में जो काम शुभ था उसे ही कलियुग में भी शुभ समझना चाहिये। यदि कहा जावे कि समयानुसार प्रथायें बदलती बदलती रहना चाहिये तो आजकल पुनर्विवाह की इतनी आवश्यकता है कि यदि चौथे काल में न भी होती थीं तो भी इसको नवीन रूप से प्रचार में लाना चाहिये।

इन पांचों बातों का उत्तर अत्यन्त संक्षेप के साथ निम्न-लिखित है—

(१) यहां पुनरुद्वाह शब्द का शास्त्रानुकूल अर्थ पुरुष का एक स्त्री के मरने पर दूसरी कन्या से विवाह होना है न कि सधवा या विधवा स्त्री का दूसरे पुरुष के साथ विवाह होना। सत्युग में तो यह होता ही था अन्य मत के ऋषि गालवजी ने कलियुग में पुरुषों की अशक्तता आदि कारणों से इसे मना किया तो ठीक ही है।

(२) सोमसेनजी ने जो यह कहा कि "यह पुनरुद्वाह कहीं होता है कहीं नहीं। सो जब कि पुनरुद्वाह का अर्थ पुरुष का कन्या के साथ दूसरा विवाह करना है तब इसमें धर्म शास्त्र से कोई बाधा नहीं आती। बुरी तो बुरी है ही कोई अच्छी को भी छोड़े तो और भी उत्तम बात है।

(३) सोमसेनजी पुनरुद्वाह को बुरा तो जब कहते जब कि शास्त्र से विरोध आता। योग्य विषयसेवन भी यदि देश काला-नुसार छोड़ दिया जाय तो इससे तो धर्म का घात न होकर विषय वासना की कमी से उल्टी धर्म की वृद्धि ही होती है। शास्त्रकारों ने रेशम को अपवित्र नहीं माना, परंतु अब इसकी उत्पत्ति में हिंसा होने लग गई अतः जैनियों के प्रति रेशम को उपयोग में न लाने

का उपदेश दिया जाय तो इस से आचार्यों की आज्ञा का घात नहीं होता। पुनरुद्वाह शब्द का जो अर्थ हमने किया है वही सोमसेनजी को भी स्वीकृत था। इस कथन की प्रमाणता में त्रिवर्णाचार का निम्नलिखित श्लोक है जो स्वयं सोमसेनजी का बनाया हुआ मालुम देता है-

"प्रमदामृतिवत्सरादितः पुनरुद्वाहविधिर्वदा भवेत्।
विषमे परिवत्सरे शुभः समवर्षे तु मृतिप्रदो भवेत्॥
त्रि० अ० ११। श्लो० २००॥

अर्थात्—यदि पुनर्विवाह करना हो तो स्त्री के मरने के पहिले वर्ष को आदि ले विषम वर्ष में करे क्योंकि विषम (ऊनी संख्या के) वर्ष में विवाह करना शुभ है और सम (पूरी संख्या वाले) वर्ष में विवाह करना मृत्यु को देने वाला है।"

इस श्लोक के पश्चात् सोमसेनजी ने निम्नलिखित श्लोक से दूसरा मत भी दिखलाया है:—

मतान्तरं—

पत्नीवियोगे प्रथमे च वर्षे नैवेद् द्विवर्षे पुनरुद्वहेत्सः।
अयुग्ममासे तु शुभप्रदं स्यात् श्रीगौतमाद्या मुनयो वदन्ति॥
त्रि० अ० ११ श्लोक २०१।

अर्थात् श्री गौतम आदि मुनि कहते हैं कि यदि कोई पुरुष स्त्री के मरने पर अपना दूसरा विवाह करे तो या तो पहिले वर्ष में करे, नहीं तो द्विवर्ष (दो वर्ष) में अर्थात् तीसरे वर्ष या विषम (ऊनी संख्या वाले वर्ष में) करे और विषम मास में करे ऐसा करने से यह शुभ प्रद होता है॥ २०१॥

उक्त नं० २०० व २०१ के दोनों श्लोकों में भी नं० १७५ के श्लोक की तरह पुनरुद्वाह शब्द है परन्तु इन दोनों श्लोकों में ही साफ तौर से स्त्री के मरने पर पुरुष अपना दूसरा विवाह करे तो उसी के लिये मुहूर्त बतलाया गया है। यदि सोमसेनजी को विधवा स्त्री

कां भी पुनर्विवाह का अभीष्ट होता तो उसके लिये भी कोई मुहूर्त बतलाते सो महूर्त्त बतलाना तो दूर रहा उल्टा उसके लिये त्रिवर्णाचार के १३ वें अध्याय में १९६ से लेकर २०५ तक के १० श्लोकों में यह उपदेश दिया है कि या तो विवाह आर्यिका व क्षुल्लिका बन जाय या वैधव्य दीक्षा धारण कर दो वस्त्रों के सिवाय समस्त वस्त्राभूषणों का व विकथा श्रृंगार आदि का त्याग करके गृहस्थावस्था में ही धर्म साधन करे। यदि उनको विधवा विवाह कराना अभीष्ट होता तो इन १० श्लोकों के आगे १ श्लोक इस आशय का भी लिख देते कि किसी स्त्री को यह वैधव्य दीक्षा न लेनी होतो किसी से अपना दूसरा विवाहभी करले। परन्तु खेद है कि उनको विधवाओं पर दया नहीं आई नहीं तो जहां २७०० श्लोक लिखे वहां १ श्लोक के और बढ़ा देने में क्या जोर आता था। परन्तु सारे त्रिवर्णाचार में उक्तंच में भी ऐसा कोई श्लोक नहीं दिया गया।

(४) गालव जैन समाज के कोई आचार्य या गृहस्थ विद्वान न होकर अन्यमत के ऋषि हैं उन्होंने कलियुग में पुरुषों के पुरुषार्थ आदि की कमी देखकर या यह जानकर कि कलियुग में दुराचारी पुरुष विधवा स्त्रियों से भी काम सेवन की चेष्टा करेंगे और कई विधवायें भी अज्ञान लोभ व विषय वासनाके कारण उनके चुंगल में फंसकर पतिव्रत धर्म को नष्ट करदेंगी ऐसा विचार कर हिन्दुओं को कलियुग में पुरुषों का दूसरा विवाह न करने की सम्मति दी है सो इस सम्मति से जैन धर्म में कोई बाधा नहीं आती जैन समाज की इससे कोई हानि भी नहीं होती और हम भी इस बातको अब हृदय से चाहते हैं कि जब जैन समाज में कन्याओं की कमी है तो जिस पुरुष का १ बार विवाह होगया वह दूसरी बार विवाह न करै जिससे अन्य कुंवारों के भी पीले हाथ हो जावें। अतः हमें तो गालवजी के उक्त कथन से विरोध है नहीं हां यदि व्यभिचारियों या विधवा विवाह पोषकों को यह उपदेश बुरा लगे तो दूसरी बात है।

(५) सतयुग की सीता अंजना आदि सतियों की कथाओं व
तो सिद्ध होता है कि उस समय सधवा स्त्री के प्रति भी दया नहीं
हो जाती कि इसके व्यभिचार से गर्भ रहा है तो उसको वनोवास
दे दिया जाता था। वीर सालरे वाले या राजा प्रजा कोई भी
उसके साथ हमदर्दी नहीं करते थे। अतः पतिव्रत धर्म ही उस
समय शुभ था और वही अब भी शुभ समझा जा रहा है। लेखकजी
का यह कहना कि चौथे काल में विधवा विवाह नहीं होता था तो
भी अब होना चाहिये सो धार्मिक समाज तो इसका पूर्ण विरोधी
ही रहेगा। क्योंकि अपराधों की जैसे जैसे वृद्धि होती जाय वैसे २
दंड में कठिनता लाने से ही धर्म रक्षा हो सकती है। जैसे चतुर्थ
काल की आदि में पहले -हा-फिर मा, फिर धिक्कार रूप दंड
जारी किया गया पश्चात् ज्यों ज्यों प्रजा अपराधिनी बनती गई
त्यों त्यों वध बन्धनादि दंडों की स्थापना व उनमें सख्ती होती
गई। अतः अधर्म का प्रचार करने से धर्म की रक्षा नहीं
हो सकती किन्तु अधर्मियों को यथोचित दण्ड देते रहने से ही धर्म
रह सकता है।

इस प्रकार धर्म शास्त्रों के ज्ञान से रहित भोले जैन समाज को
धोखे से बचाने के लिये, आगे होने वाले अनर्थों का विचार न कर
बिना टीका टिप्पणी के अन्य मत के श्लोकों को त्रिवर्णाचार में
उद्धृत करने वाले भट्टारक सोमसेनजी को झूठे कलङ्क से बचाने
के निमित्त और अपने पड़ोसी सनातन हिन्दू धर्म में भी पतिव्रत
धर्म का महत्व दिखलाने के अर्थ हमने बड़े प्रयास से त्रिवर्णा-
चार के उन्हीं श्लोकों से विधवा विवाह का सप्रमाण व सयौक्तिक
खंडन किया है जिन श्लोकों से कि लेखकजी इस ट्रैक्ट में विधवा
विवाह का होना सिद्ध कर रहे थे।

यदि विचार शील व विद्वान् पाठक उक्त विधवा विवाह पोषक
ट्रैक्ट को सामने रख कर या यों ही इस लेख को ध्यान से पढ़ेंगे
और समझेंगे तो उनको यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वर्तमान
जैन समाज में अज शब्द का बकरा अर्थ कर उसके द्वारा हिंसक
यज्ञ को स्वर्ग का साधन बतलाने वाले पर्वत ब्राह्मण का अनुकरण करने

च्छति पूर्वस्य च पातकयोगा दुष्टवृत्तत्वं वा तदा दत्तामपि हरेत्, एतच्च सप्तपदात्प्रागेव द्रष्टव्यं॥ अर्थ इसका यह है कि पहले वरकी अपेक्षा कोई विद्या कुल आदि से श्रेष्ठ दूसरावर आजे या पहिला वर पापके योगसे दुराचारी होतो दी हुई कन्या को भी उससे छीनले अर्थात उसका विवाह दूसरे से करदे। यह कार्य सप्तपदी के पहले ही समझना चाहिये।"

जैसे उक्त श्लोक में अयोग्य वर से कन्याको छुड़ाने का अधिकार कन्या के पिताको दिया गया है। उसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक में वर पक्ष को भी सप्तपदी के पहले कन्या छोड़ने का अधिकार दिया गया है।

"विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम्॥ १॥

टीका—'मद्भिरेव द्विजाग्र्याणाम्' इत्येवमादिविधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां वैधव्यलक्षणोपेतां रोगिणीं क्षतयोनित्वाद्यभिशापवतीमधिकाङ्गां छिद्रोपगच्छन्नोपपादितां सप्तपदीकरणात्प्रागज्ञातां त्यजेत्, तत्रतत्त्यागे दोषाभावः। मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ७२

भावार्थ—इसका यह है कि विवाह के समय कन्याके पिताके द्वारा दिये हुये संकल्प जल को ग्रहण कर लेने के बाद भी यदि वर या वर पक्ष वालों को यह मालुम हो जाय कि इस कन्याके लक्षण वैधव्य (विधवापने) के सूचक हैं या यह कन्या व्यभिचार से दूषित है अथवा इसके पिताने इसके अधिकाङ्ग आदि दोषों को छिपाकर हमें दी है तो ऐसी दशा में वह तब तक उस कन्या को छोड़ सकते हैं जब तक कि सप्तपदी न हुई हो।

पहले याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक में यह कहा गया है कि—यदि वरमें कोई दोष हो तो कन्या का पिता सप्तपदी के पहिले उस कन्या को दूसरे के लिये दे दे। इस मनुस्मृति में यह दिखलाया गया है कि—सप्तपदी के पहिले कन्या में दोष मालुम हो जाय तो

तथा धर्मधुरंधर पं० श्रीलालजी जैन, जैन सिद्धान्त प्रकाशक पवित्र प्रेस द्वारा प्रकाशित जैन पं० माधवराव कल कत्ता द्वारा प्रकाशित—

४ विधवा विवाह खंडन

इन सब ट्रैक्टों को उनके प्रकाशक महाशयों से मंगाकर ध्यान पूर्वक पढ़ें क्यों कि ये सब ट्रैक्ट समाज के धर्म रक्षक प्रौढ़ विद्वानों द्वारा लिखे हुए हैं और प्रायः इनमें सभी कुयुक्तियों का क्रम व सप्रमाण खंडन भी कर दिया गया है इन सब ट्रैक्टों के पढ़ने पर भी किसी महाशय का भ्रम दूर न हो तो वे हमारे पास प्रश्न भेजकर उनका उत्तर मंगालें।

सूचना नं० २

हिन्दी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित "जैनगजट" और अजमेर से प्रकाशित "दिगम्बर जैन हितबन्धु" ये दो ऐसे साप्ताहिक पत्र हैं जिनमें श्री० दि० जैन धर्म की पवित्रता की यथार्थ मान्यता विद्वानों द्वारा लिखित आर्ष शास्त्रानुकूल लेख प्रकाशित होते हैं और कई अन्य समाचार पत्रों के धर्म विरुद्ध लेखों का यथोचित खंडन भी छपा करता है। अतः धर्मानुरागी सज्जनों को उक्त समाचार पत्र अवश्य मंगाकर पढ़ने चाहिये और इनके लेखों पर अमल करना चाहिये।

निवेदक—

जवाहिरलाल शास्त्री,

ठि० श्रीमान् राय ब० सेठ टीकमचन्दजी साहब की हवेली